इतिहास में दर्ज होतीं दलित स्त्रियाँ

रजनी प्रभा

बदलते सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों में इन दिनों कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को हमारे समाज के सामने जोरदार तरीके से ला खड़ा किया है, जिनमें दलित-विमर्श सबसे महत्वपूर्ण विषय के रूप में चर्चा का विषय बना हुआ है। 'दलित' शब्द सुनते ही मस्तिष्क में अनेक प्रश्न कौंधने लगते हैं, जैसे-दलित कौन है? दलित की पहचान क्या है? क्या कथित निम्न जातियाँ ही दलित हैं? या उन्हीं की तरह आर्थिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े अन्य सभी मनुष्य निजमें महिलाएँ भी शामिल हैं। गैर-दलितों द्वारा बनाए गए हिन्दी शब्दकोशों में 'दलित' शब्द का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

'दलित शब्द मसला हुआ, मर्दित, दबाया हुआ, रौंदा या कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ आदि है।'[1] किन्तु यह शब्द पर्याय का मामला नहीं है, बल्कि 'दलित' शब्द एक सजीव श्रमवत बड़ी संख्या में मौजूद मानव-समूह है। इसे उसकी व्यावहारिक जीवन-स्थितियों में देखना उचित होगा, न कि शब्दाडंबरों में।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अस्पृश्य के लिए डिप्रेस्ड, अनटचेबल, बहिष्कृत आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह अस्पृश्य व्यक्ति ही दलित है। 'दलित' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है, 'दलित वर्ग' स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग है। यद्यपि उन्हें अछूत कहा जाता है, किन्तु वे हिन्दू जाति के किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं। वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है। भारत में अनेक, अन्य जातियाँ दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं, किन्तु दलित वर्गों की कृर्षि-कर्मियों और नौकरों के साथ अश्पृश्यता का बर्ताव नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग अश्पृश्यता के अभिशाप के शिकार हैं। उन्हें मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है।'[2] जैसा कि दलित के संबंध में दलित चिंतक हर्ष मंदर की मान्यता है, 'दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ गरीब और उत्पीड़ित व्यक्ति से है। दलित व्यक्ति वह होता है जो जमीन को तोड़कर प्रस्फुटित होता है। आदिवासी

महिलाएँ, बंधुआ मजदूर और अल्पसंख्यक आदि इसी श्रेणी के लोग हैं। दलित अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है। मेहनत करके खाने वालों की लुप्त हुई अस्मिता की पहचान वापस दिलाता है। दलित होने के कारण व्यक्ति साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, आर्थिक व राजनीतिक किसी भी क्षेत्र के निम्न से उच्चतम स्तर के अधिकार को प्राप्त करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।'[3]

गाँधी, मार्क्स और अम्बेडकर क्रमशः हरिजन, सर्वहारा और अस्पृश्यों की मुक्ति और शोषण विहीन समाज बनाने का सपना देखते थे। ये सभी व्यक्ति दबे, पिछड़े, अछूत और मजदूर वर्ग के हैं। इस नजरिये से देखा जाए तो ये दलित हैं। भारत के मार्क्सवादी समाजिक पृष्ठभूमि में जाति की वास्तविकता को नकार कर वर्ग-विहीन समाज बनाने की बात करते हैं, जबकि डॉ. अम्बेडकर के लिए दलितों की प्रथम लड़ाई वर्ण एवं जाति भेद के मूल को ही समाप्त करना है। उनके बिना सर्वहारा की मुक्ति संभव नहीं है। इस प्रकार शैक्षिक स्थिति एक जैसी होने पर भी दोनों मानव-समूह दलित की अवधारणा से अलग हो जाते हैं। भारत के अस्पृश्य कहे जाने वाले दबाए, सताए गए और मानवाधिकारों से वंचित रखे गए लोग ही दलित कहलाने के अधिकारी हैं।[4] यही बात हमें सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में देखने को मिलती है। बचपन यदि हिन्दी दलित आत्मकथाओं में महिला 'दोहरा' अभिशाप है तो सुशीला टाकभौरे का 'शिकंजे का दर्द' दलित महिला आत्मकथाकारों का आगाज है। शिकंजे का दर्द दलित नारी के शोषण के विरूद्ध के संघर्ष की गाथा है। बचपन से ही विद्रोही और स्वाभीमानी टाकभौरे जी का संपूर्ण जीवन ब्राह्मणवाद के खोखले सिद्धान्तों में पीसता रहा। पेशे से शिक्षिका होने पर भी वर्ण-व्यवस्था के चक्रव्यूह में उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं करने दिया। दलितों में भी दलित समझे जाने वाली नारी मनुवादी समाज, दलित समाज, मनुवादी मनोवृत्तिवाले पुरुष समाज के शिकंजे में वह कई वर्षों तक से फँसी भीतर से मुक्ति के लिए छटपटाती अपने नारी जीवन को कोसने के लिए विवश दिखाई देती है। इस भेदभाव के दंश को झेलते हुए उनका दर्द झलकता है। वे कहती हैं- 'जातिभेद के दंश ने मुझे बहुत पीड़ित किया है। मेरे साथ ही ऐसी घटनाएं क्यों घटी? यह बात नहीं है, ऐसी घटनाएँ मेरे जैसे सभी के साथ लगातार घटती रहती हैं। अपमान वे हीं महसूस करते हैं जिन्हें सम्मान मिला हो या जिन्होंने सम्मान को समझा हो! सम्मान मिलने पर भी मैंने लगातार ऐसे जातिभेद और छुआछूत के अपमान को झेला है। मानसिक संताप की वे घटनाएँ मेरे लिए अविस्मरणीय बन गई हैं।'[5] आज यही दबले-कुचले लोग अपनी अस्मिता के लिए आगे आ रहे हैं। अस्मिता यानी पहचान! सदियों से इन्हें दबा कर, सता कर रखा गया। मनुवादी सोच ने समाज में कुव्यवस्था फैला रखी है। अपनी पहचान, अपने अधिकार और अपनी सामाजिक स्थिति को अब तक न पाने का इनका मुख्य विषय था शिक्षा का आभाव! सदियों तक दलितों और महिलाओं को शिक्षा से वंचित रखा गया। कहा गया कि महिलाओं की दो ही जगह है, एक रसोई में, दूसरा पति के बिस्तर पर। चौखट के बाहर की दुनियाँ इनके लिए नहीं। वहीं दलितों को भी केवल सेवा-सुश्रुता का साधन समझा गया ! उन्हें समाज में कोई सम्मान नहीं दिया गया। वर्ण-व्यवस्था में उन्हें सबसे नीचे का स्तर दिया गया। यानी कहीं न कहीं समाज की संकुचित विचारधारा ने इन दोनों को एक ही दर्जे में रखा। आज शिक्षा प्राप्त पर कर ये दोनों ही स्वयं के अस्मिता को पाना चाहते हैं। और स्वयं को समाज की मुख्यधारा से जोड़ना चाहते हैं।

दलितों को दयनीय दशा में पहुँचाने वाली शक्तियों की ओर इंगित करते हुए हिन्दी-मराठी के वरिष्ठ अनुवादक सूर्यनारायण रणसुमे का मानना है कि, 'भूख के अलावा और किसी भी प्रकार के जरूरत को दलितों में उभरने नहीं दिया गया था। श्रम और भूख तथा भूख और श्रम, यहीं तक उनकी जीवन यात्रा को सीमित कर दिया

गया था। अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति मनुष्य जब सजग हो उठता है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह छटपटाने लगता है।'[6] 'समय बदलने के साथ चीजों के मायने भी बदलने लगते हैं। पहले शुरू-शुरू में 'उग्र' जी और प्रेमचंद जैसे लेखकों को जो दलितों के प्रति सहानुभूति रखते थे, उन्हें दलित लेखक माना गया। फिर चीजें बदलने लगी। चर्चित मराठी लेखक डॉ. शरण कुमार लिंबाले ने दलितों के विषय में लिखा है, 'गैर दलितों के लेखन में सहानुभूति और दया की दृष्टि होती है। सहानुभूति और दया नहीं चाहिए। हमें मानवतावादी उदार दृष्टिकोण से नफरत है। यह दृष्टिकोण हमारे सदियों के संताप को नजरअंदाज करता है। हमें यह गैस्दलित सफेद साहित्य कहना साहित्यिक व सांस्कृतिक छल और हेरा-फेरी है। यह बात मैं गैर-दलितों के संदर्भ में कह रहा हूँ।'[7] फिर बात आई की दलितों की हू-ब-हू पीड़ा, व्यथा, संवेदना आदि के बारे में कौन ज्यादा सटीक और यथार्थ लिख सकता है? वो जिसने स्वयं ये सब भोगा है यानी 'भोक्ता' या जिसने उसे परिस्थिति को देखा-समझा और लिखा यानी 'सृष्टा'। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने ज्योतिबा फुले के विषय में कहा है, 'गुलामी की यातना जो सहता है वही जानता है और जो जानता है, वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव और कोई नहीं।'[8] यानी एक दलित ही सच्चा दलित साहित्य लिख सकता है! वंचित, उपेक्षित, शोषित व दलित जीवन की स्थितियों को लेकर की गई साहित्यिक सर्जना रसात्मकता के आभाव में पाठक पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ती है। इस संदर्भ में डॉ. सी.बी. भारती का मत है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र महान यूनानी विचारक सुकरात के विचारों से मेल खाता है। 'गोबर से भरी टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है, जबकी सवर्ण ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोगी दृष्टि से अपूर्ण है।'[9] बदलते वक्त में दलित अस्मिता और साहित्य की तात्विकी भी बदल गई है। अब चाहे वो दलित लेख हो या गैर-दलित जो ब्राह्मणवाद का विरोध दिखायेगा वहीं दलित लेख की संज्ञा में आयेगा। यानी वह नास्तिक दर्शन के चार्वाक के सिद्धांतों का पालन करने वाला हो। जिसमें ब्राह्मणवाद के चारो-स्तम्भों, यथा-कर्मकांड, वणव्यवस्था, ईश्वर और पुनर्जन्म आदि को विरोध या निषेध हो।

'बंधुआ की बेटी' में आश्रयविहीन भंगी जाती की स्त्री की समस्याओं का चित्रण है। मनुवादी समाज ऐसी स्त्रियों को आश्रय नहीं देता। डॉ. कुसुम मेघवाल ने भी इस क्रम में लिखा है, 'हिन्दी का यह पहला उपन्यास है जिसमें भंगी जाती की पात्री को नायिका का स्थान प्राप्त हुआ है। अर्थात गैर-दलित उपन्यासकारों द्वारा रचित किसी भी हिन्दी उपन्यास है जिसमें भंगी जाति की पात्रों को सम्मानीय नायकत्व प्रदान नहीं किया है।'[10] प्रह्लादचंद की कहानी 'लटकी हुई शर्त' दलित पात्र गंगाराम में बढ़ती हुई दलित चेतना को पहचाना जा सकता है। ठाकुर रामकिसुन की पोती के विवाह के अवसर पर गंगाराम द्वारा एक शर्त रखी जाती है कि, 'खाने के बाद हम अपना पतल नहीं उठायेंगे। नेउत करके ले जाते है तो समुचित सम्मान दीजिये और यह सम्मान अगर आपने दिया तो सबने दिया-क्योंकि आप तो गाँव के सिरमौर हैं।[11] गंगाराम द्वारा समान भोज की यह शर्त रखना उसकी नवीन चेतना की परिचायक है, किंतु शर्त वहीं की वहीं लटकी रह जाती है और समाज की वास्तविकता सामने आ जाती है। मदन दिक्षित का उपन्यास 'मोरी की ईट' मेहतर समुदाय की जीवन-स्थितियों को अंतरंगता से उजागर करता है। इसमें मुख्य पात्र के रूप में मंगिया (मंगो) है, जो उसके पतन से शुरू होकर उसके आदर्श के साथ समाप्त होती है। मंगिया इस उपन्यास की केन्द्रित पात्र है। इसमें पुरुष पात्र डॉ. सुरेन्द्रनारायण पाण्डे जाति से ब्राह्मण है। वह मंगिया से प्रेम करता है। इसमें मंगिया व उसका समाज सुरेन्द्रनारायण पाण्डेय को साथ कोई बदसुलूकी नहीं करता, न ही उसे मंगी बनाता है, बल्कि मंगिया का चरित्र मानवीय स्तर पर समर्पण भाव से भरा है। यहाँ तक कि वह प्रेमी डॉ. सुरेन्द्र पांडे के वैद्य पुत्र के दुर्घटनाग्रस्त

होने पर उसे अपना खुन देकर उसकी जान बचाती है। इस उपन्यास के विषय में डॉ. कुँवरवाल सिंह के अनुसार, 'एक तरह से यह उपन्यास मंगिया की संघर्षगाथा है, एक स्वालंबी नारी बनने की प्रक्रिया और साधारण स्त्री से स्वाभीमानी स्त्री बनने की विकास-यात्रा।'[12] दीक्षित जी ने उपन्यास को भावुक बनाने की दृष्टि से दिखाया है कि ब्राह्मणी के पेट से पैदा बच्चें के शरीर में मेहतरानी के बच्चे के शरीर का खून दौड़ रहा है जो उसके डरपोक अवैध ब्राह्मण बाप का खून है। जैसा कि अर्चना वर्मा ने लिखा है, 'मंगिया के बेटे की नसों में ब्राह्मण का रक्त प्रवाहित हो रहा है, वैसे ही अब डॉ. के बेटे की नसों में मेहतरानी का रक्त दौड़ रहा है।'[13]

'अम्मा' कहानी की नायिका एक स्वाभिमानी, परिश्रमी और सच्चरित्र दलित महिला है, जो नाम-पहचान खोकर एक भाववाचक संज्ञा बनकर रह गई है । वह मेहनत की कमाई से बच्चों को पढ़ा-लिखा कर सम्मान का जीवन जीने की शिक्षा देती है। अपमानित कार्य की प्रतीक झाड़ू को वह हाथ नहीं लगाने देती । इस तरह 'अम्मा' दलित स्त्री की खुद्दारी का जीवंत उदाहरण है।[14] समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था ने मानव से मानव को पाटने का भरपूर प्रयास किया और इस व्यवस्था ने जातिवाद के कुव्यवस्था में पड़े लोगों की आँखों पर तो पट्टी बाँधी ही साथ में उनकी आत्मा पड़ पर भी ताला जड़ दिया। तभी तो सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में पढ़ी-लिखी शिक्षिका को भी कोई सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता तो था ही सवर्णों ने उनकी पीड़ा को भी महसूस नहीं किया। सहानुभूति के दो बोल भी नहीं फूटे उनसे। अकेली, असहाय टाकभौरे जब अकेली होती है तभी उनकी सास का देहान्त हो जाता है वो इस सब परिस्थितियों से अनभिज्ञ डरती है, रोती-चिल्लाती है मगर किसी का कलेजा नहीं पसीझता। कोई उन्हें सांत्वना नहीं देने आता। उल्टे बाद में उनके पति से कहा जाता है यहाँ क्रिया-कर्म नहीं किया जा सकता; आप कहीं और चले जाए। मृत देह के साथ वो अपने लोगों के पास रिक्शे से चले जाते हैं । जहाँ टाकभौरे का दर्द छलकता है- यहाँ हमनें अपने लोगों को अपना दुख बताया। हमारे लोगों ने हमार दुख समझा । हमारे दुख में वे भी सहभागी हुए, वे भी रोये मैंने रो-रो कर सबको बताया- 'मैं अकेली थी, मुझे कुछ जानकारी नहीं थी कि यह सब कैसे होता है? सासू माँ ने मेरा हाथ पकड़ लिया था मैं डरकर चीखी थी । मेरी चीख सुनकर कोई नहीं आया । मैं रोती रही मुझे रोता देखकर भी कोई नहीं आया । चचेरी ननद कमलाबाई बोली- 'हम तो कहते हैं, यहीं अपनों के बीच रहो। इधर-उधर परायों के बीच रहने क्यों जाते हो?' मैं उनसे क्या कहती? अपनों के बीच में भी परेशानियाँ थीं । शिक्षित होकर, अच्छी नौकरी करते हुए हम अच्छे जीवन-यापन की कामना करने लगे थे । मगर इसके लिए हमें सहयोग नहीं मिल सका।'[15] स्त्री-संघर्ष के साथ-साथ दलित-संघर्ष की वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित व्यथा-कथा है ये आत्मकथा। जिसमें आरंभ से अंत संघर्ष ही संघर्ष दृष्टिगोचर होता है।

समाज में व्याप्त विसंगतियों को मधुकर सिंह लिखित कहानी 'सुकना चमार की औलाद' में बखूबी दिखाया गया है । इस कहानी का मुख्य सार इस ओर इशारा करता है कि केवल जन्म से किसी में जन्मजात संस्कार नहीं आते अपितु जिस परिवेश में वो पलाबढ़ा होता है उसका भी उस पर यथार्थ प्रभाव पड़ता है । परिवेश से निर्मित व्यक्ति में जिन चाहे जिसका हो संरक्षण उसे जिसका प्राप्त होगा । उसमें गुण उसी के आयेंगे । परिस्थितियाँ दोनों ही तरह की हो सकती है । 'सुकना चमार की औलाद' एक ऐसे ही कहानी को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। ठाकुर वंशीधर सिंह को कोई औलाद न थी । ठाकुराईन की सूनी कोख हमेशा किसी फूल को तलासती रहती। वह तलाश फूलबाबू के आने से पूरी हुई सुकना चमार की कई संताने पहले ही थी, जब फेंकना माय ने फूल बाबू को जन्म दिया, तब ठकुराईन की सुनी कोख को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। फेंकना माय किसी भी सूरत में अपनी संतान को अपने से अलग नहीं करना चाहती थी । परन्तु उसके तथा अपने साथ-साथ अपने

बच्चों के भी उज्जवल भविष्य की कामना ने उसे विवश कर दिया। समय बितता गया। फूलबाबा सुकना के साथ अमानवीय व्यवहार करते रहते। एक दिन फूलबाबू का पागलाया मन सुकना को चाबुक लाने को कहते हैं। वह शैतान बन जाता है। फिर वही ठहाँका, 'तू घोड़ा बन सुकना, मैं सवारी करूँगा, बन ना। ला थमा दे मेरे हाथ में चाबुक।'

'चाबुक कहाँ से लाऊँ, फूल बाबू।'

'कहीं से भी ला।'

सुकना कहीं से तार उठा लाता है और कइयों को परस्पर लपेटकर चाबुक की शक्ल में फूलबाबू की हाथ में थमाता है।'[16] और फिर शुरू होता है शैतानी खेल। सुकना खून से लथपथ छटपटाता रहता है और फूलबाबू सटाक-सटाक की आवाज में बौराए ठहाकें लगाने लगते हैं। सुकना कराहता है, 'बस करो अब बर्दास्त नहीं हो रहा मुझसे।' मगर फूलबाबू तो बौराए हैं। पागल हाथी हो रहे हैं। सुकना की उधेड़कर ही दम लेंगे आज। 'ठहर सुकना की औलाद।' इसबार गरजते हुए झटके से उठता है सुकना और धड़ाम से छत पर पटकता है फूलबाबू को।' मार डालूँगा साले तुझकों आज। न रहेगी ऐसी दोगली औलाद, न सबूत रहने दूँगा ठकुरानी की महल अटारी का।'[17] सुकना चमार की हार दोनों ही सुरत में हुई। पुत्र से अपमानित होकर भी और अपने साथ-साथ। पुत्र की जान गवाँकर भी है। 'सुकना चमार की औलाद' कहानी में। जिसकी परिणती अत्यन्त दुखद होती है।

दलित और स्त्री ये दोनों ऐसी शोषण की साक्षात प्रतिमूर्ति है जिन्हें कभी अपनी अस्मिता नहीं मिली। समाज में सम्मान नहीं मिला। समाज में इन्हें सेवक वर्ग के अधिन ही रखा गया। इन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया। ताकि ये लोग अपनी अस्मिता, अपने अधिकार और पहचान को न जान पाय। समाज की मुख्यधारा से इन्हें वंचित रखा गया। वर्चस्वादी शक्तियों ने इन दोनों का केवल और केवल शोषण किया, पोषण नहीं। इन सवर्णों ने अगर दलितों को ऊपर उठने नहीं दिया। पढ़ने-लिखने, या आजाद नहीं होने दिया तो इन्होंने अपनी ही परिवार की स्त्रियों को भी कहाँ ये अधिकार दिये। चौके-बिस्तर और चौखट की चौहद्दी में इन्हें बाँध कर रख दिया। जिसके तहत इनका जितना भी शोषण हो सकता था इन्होंने किया। यानी कि समाज में इन दोनों को प्राप्त दर्जा एक ही था, अपमानित और सेवक का। जिसका आना न कोई वजूद था ना ही पहचान। इन्हें सिर्फ और सिर्फ साधन के रूप में प्रयुक्त सामग्री ही समझा गया। 'भारतीय समाज के संदर्भ में दलित वह है जो मनुवादी वर्ण-व्यवस्था के तहत शुद्र वर्ण में गिना जाता है। दलित शब्द किसी जाति या समुदाय का प्रतीक न होकर एक सार्वभौमिक अत्याचारी सत्य है। जो व्यक्ति सताया गया है, चाहे जातिगत रूप से आर्थिक रूप से या सांस्कृतिक रूप से या सामाजिक रूप से प्रताड़ित किया गया है वह दलित है। दलित का अर्थ वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र अर्थात छोटी जाति के समझे जाने वालों के रूढ़ हो गया है, लेकिन मैं इसे उचित नहीं मानता। 'दलित' का अर्थ है शोषित और पीड़ित चाहे वह किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, लिंग या नस्ल का हो, यदि जुल्म और उत्पीड़न का शिकार है तो मैं उसे दलित मानता हूँ।'[18] पहले दलित साहित्य हमें जानना-पढ़ना पड़ता था। जिसे अब जिसकी तात्विकी बदलकर दलित अस्मिता में परिवर्तित हो गई हैं। इसके अंतर्गत केवल शूद्र वर्ण वाले ही नहीं अपितु कई और भी क्षेत्र जुड़ गये हैं जिनमें दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक, आदि भी जुड़ गये हैं। जो सदियों से शोषित होते रहे हैं। शिक्षा के आभाव में जिन्हें दबाकर-सताकर रखा गया। आज सरकारी योजनाओं का लाभ पा वे शिक्षित हो अपने को समाज की मुख्यधारा से जोड़ना चाहते हैं। अपनी खोई अस्मिता और पहचान को पाना चाहते हैं।

समासतः कहा जाना चाहिए कि दलित अस्मितामूलक साहित्य की तात्विकी ब्राह्मणवाद के प्रतिरोध में दर्ज कर्मकांड, वर्णव्यवस्था, ईश्वर और पुर्नजन्म से निःसृत है। अस्मितामूलक साहित्य में, दलित, स्त्री,

आदिवासी, थर्ड जेंडर हो या फिर अनाथ, भिखारी आदि, सबके शोषण के मूल में क्योंकि ब्राह्मणवाद की अनुसंगी शक्तियाँ हैं, इसीलिए उसके प्रतिरोध से ही दमित अस्मिता या अन्य अस्मितामूलक साहित्य को मुख्यधारा में शामिल किया जा सकता है। स्त्री-संघर्ष की चुनौतियाँ अधिक जटिल है, क्योंकि उनका दोहरा शोषण होता आया है। सामंती शक्तियों ने भी उनका शोषण किया और जातिवादी शक्तियों ने भी। अतः समाज की मुख्यधारा में उन्हें शामिल करने में प्राथमिकता देनी होगी। जैसा की दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर या फिर प्रो. श्योराज सिंह बेचैन का भी मानना है कि स्त्री-शक्ति की चेतना के विकास से उन्हें सामाजिक विकास की मुख्य विकास की धारा में शामिल किया जाना अधिक व्यवहारिक होगा क्योंकि उसका प्रभाव अन्य अस्मितामूलक वर्ग पर भी पड़ेगा।

संदर्भ सूची :

1. रामचंद्र वर्मा, संक्षिप्त शब्द सागर, मूल संपादित-नागरी प्रचारिणी काशी सभा, काशी, पृ. 468
2. बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-5, प्रकाशक- डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं आधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 15
3. हर्ष मंदर, अनुभव, मार्च 1997, संपादक- मैथ्यू मालटम, मुंबई, पृ. 4
4. बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-5, प्रकाशक- डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं आधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 4
5. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, संस्करण 2020, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
6. सूर्यनारायण रणसुभे, राष्ट्रीय सहारा, अंक 12 फरवरी 1994, दिल्ली संस्करण
7. शरण कुमार लिंबाले, हंस कथा मासिक, संपादक राजेन्द्र यादव, दिसंबर 1995
8. प्रो. मैनेजर पाण्डेय, युद्धरत आम आदमी, जुलाई - सितंबर 1995, दलित चेतना कविता विशेषांक 31, सं. रमणिका गुप्ता।
9. डॉ. सी. वी. भारती, हंस कथा मासिक, अगस्त, 1996, नई दिल्ली, पृ. 71
10. डॉ. कुसुम मेघवाल, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 53
11. प्रह्लादचंद, सुरसंग से गुजरते हुए दूसरी दुनिया का यथार्थ, सं. रमणिका गुप्ता, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, पृ. 246
12. डॉ. कुवरपाल सिंह, दलित साहित्य बनाम दलित राजनीति, वर्तमान साहित्य, जनवरी 1999, पृ. 64
13. अर्चना वर्मा, इस खून की जाति क्या है।, हंस, मई 1999, पृ. 84
14. ओम प्रकाश वाल्मीकि, 'अम्मा' वसुध ज/मा. 1996
15. सुशीला टाकभौरे 'आत्मकथा' 'शिकंजे का दर्द' 2020, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 172
16. मधुकर सिंह, सुकनाचमा की औलाद, संस्करण 2014, साहित्य भारती, दिल्ली, पृ. 23
17. वही, पृ. 24
18. ललिता महली, दलित चेतना की साहित्यिक अवधारणा, स्मारिका, राँची 2012, पृ. 18 स्व